सच्ची मन की शान्ति

राजयोग द्वारा ही पूर्ण पवित्रता, शान्ति स्थापन हो सकती है।

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व विद्यालय

शान्ति

आज सारे संसार में जिस ओर देखो अशान्ति है। धनवांन् है या निर्धन, राजा है या रंक, यहाँ हर एक प्राणी अशान्त है। शान्ति किसको प्रिय न होगी ? शान्ति की खोज में ही तो साधु-संन्यासी पर्वतों व जंगलों में भटकते हैं। भक्त-जन मंदिरों व तीर्थों के चक्कर लगाते फिरते हैं और वैज्ञानिक चाँद व सितारों में नई-नई दुनिया ढूँढ़ रहे हैं ताकि वहाँ जाकर शान्ति में रह सकें। प्राय: मनुष्य यह समझता है कि धन द्वारा शान्ति मिल सकती है, इसीलिए वह अधिक से अधिक धनोपार्जन में व्यस्त रहता है। यदि धन द्वारा शान्ति मिल सकती होती तब तो प्रत्येक धनी व्यक्ति अवश्य ही शान्तिमय जीवन व्यतीत कर रहा होता, परन्तु आजकल के समय में उन्हें भी शान्ति कहाँ ? जबकि इन सब प्रकार के साधनों से भी शान्ति नहीं मिलती तो आखिर शान्ति कैसे मिले ? प्रत्येक प्राणी यह जानने का इच्छुक है कि शान्ति जैसी अमूल्य सौगात कैसे प्राप्त हो सकती है ? अत: अपने जीवन के अनुभव के आधार पर ही 'सच्ची मन की शान्ति' नाम से यह छोटी-सी पुस्तिका लिखकर पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ, ताकि यह सौगात घर-घर में पहुँच सके और हर-एक मानव सच्ची और स्थायी मन की शान्ति प्राप्त कर सके।

ओ३म् शान्ति

– जगदीश राम आनन्द

सच्ची मन की शान्ति
मन की शान्ति अर्थात् आत्मा की शान्ति

यद्यपि कहा यही जाता है कि मन को शान्ति चाहिये परन्तु 'मन' कहने का प्रयोजन यही होता है कि 'मुझे' शान्ति चाहिये या 'मैं' अशान्त हूँ। 'मैं' यह जो शब्द है वह मुख द्वारा ही बोला जाता है। परन्तु यह बोलने वाला कौन है, अथवा 'मैं कौन हूँ?' यह ज्ञान भी अवश्य होना चाहिये। देखिये, अपने-आपको 'मैं' कहने वाली चेतन-शक्ति आत्मा है। निराकार, ज्योतिर्बिन्दुस्वरूप आत्मा जब पाँच भौतिक तत्वों का बना हुआ शरीर धारण कर लेती है, तब वह 'जीवात्मा' कहलाती है। आत्मा जब तक शरीर से अलग निराकार स्वरुप अर्थात् अशरीरी होती है तब तक वह देख, बोल अथवा सुन नहीं सकती। शरीर धारण करने पर ही जीवात्मा सुख और दुःख, शान्ति व अशान्ति का अनुभव करती है। अशरीरी आत्मा कभी दुःखी अथवा अशान्त नहीं होती। शान्ति की इच्छा भी जीवात्मा को तभी होती है जब उसके जीवन में दुःख व अशान्ति है। यह बात सत्य है कि जीवन सदा दुःखी व अशान्त नहीं होता बल्कि अशान्ति कुछ ही समय के लिए होती है। तब ही मनुष्य इच्छा रखता है कि उसे शान्ति चाहिये या मुख से वर्णन करता है कि वह अशान्त है। यदि अशान्ति सदा ही रहती होती, तब तो 'शान्ति' क्या वस्तु है — उसे यह अनुभव ही नहीं हो सकता और तब शान्ति की इच्छा भी उत्पन्न नहीं हो सकती।

मन आत्मा की संकल्प-शक्ति का नाम है

प्राय: मन को आत्मा से भिन्न माना जाता है। यदि यह सत्य हो तब तो मन को भी शरीर का ही अंग मानना पड़ेगा और मन को नाशवान समझा जाएगा और वह आत्मा के शरीर छोड़ने के साथ ही नष्ट हो जाएगा। परन्तु ऐसा कभी होता नहीं। हृदय तो (Heart) शरीर का अंग है परन्तु मन (Mind) शरीर का अंग नहीं है। मन को शरीर का अंग मानने वाले हृदय और मन के अन्तर को नहीं समझते।

'मन' आत्मा से भिन्न कुछ और वस्तु नहीं है। आत्मा चेतन है और बुद्धि सहित है। मन, बुद्धि और संस्कार — ये तीनों आत्मा ही की शक्तियाँ हैं। आत्मा एक ज्योतिस्वरूप चेतन शक्ति है, संस्कारों का पुन्ज है। आत्मा की संकल्प-शक्ति

का नाम ही 'मन' है। बुद्धि निर्णायक अथवा विवेक-शक्ति को कहा जाता है। सागर में लहरों की भाँति मन में सदैव संकल्प उठते ही रहते हैं। जब तक मनुष्य जीवित रहता है ये संकल्प कदापि बन्द नहीं होते। संकल्प दो प्रकार के होते हैं — शुद्ध और अशुद्ध। बुद्धि मानो एक तराजू है जो यह निर्णय करती है कि कौनसा काम किस समय और कैसे करना चाहिये अथवा कौनसा काम करने योग्य है और कौनसा नहीं। अत: मन आत्मा की संकल्प-शक्ति का ही दूसरा नाम है। मन की जिस समय जैसी अवस्था होती है उस समय वैसे ही संकल्प उसमें आते हैं।

मन तथा हृदय में अन्तर

यह तो ऊपर बताया गया है कि हृदय शरीर का अंग होने के कारण जड़ वस्तु है और मन आत्मा का अंग होने के कारण चेतन है। इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध अवश्य है। जैसे एक है देखने की शक्ति जिसे 'दृष्टि' कहते हैं और दूसरी जड़ वस्तु है 'नेत्र' (चर्म चक्षु) जिनके द्वारा देखा जाता है। इसी प्रकार मन तो संकल्प-शक्ति है परन्तु संकल्प मन में उत्पन्न होते हैं। मन की स्थिरता अथवा चंचलता, हृदय की कठोरता व कोमलता मानसिक संस्कारों पर निर्भर है। मानसिक संकल्पों के शुद्ध होने पर हृदय की महिमा होती है, हृदय को कोमल कहा जाता है और यदि दूषित अपवित्र संकल्प हों तो हृदय कठोर माना जाता है। मानसिक अवस्था का हृदय पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। हृदय अति महत्वपूर्ण स्थान है। शरीर में हृदय का विशेष और महत्वपूर्ण कार्य (पार्ट) है। यदि हृदय को निरोगी रखना हो तो संकल्पों को हल्का कर देना चाहिये। अधिक सोच-विचार में नहीं जाना चाहिये।

मन मूर्ख, पापी व शैतान नहीं

प्राय: मन पर यह दोष दिया जाता है कि मन ही मनुष्य से सब पाप-कर्म करवाता है। इसलिए मन को पापी व नीच आदि भी कह देते हैं। निस्संदेह प्रत्येक कर्म के करने का संकल्प मन में ही उत्पन्न होता है। परन्तु, सोचने का विषय यह है कि क्या मन सदैव ही अशुद्ध संकल्प उठाता है? नहीं, यदि मन सदैव बुरे संकल्प ही उठाए तब तो संसार में किसी भी व्यक्ति द्वारा कभी भी कोई श्रेष्ठ कर्म न हो, परन्तु ऐसा

तो है नहीं । जहाँ पाप-आत्माओं द्वारा पाप-कर्म होते रहते हैं वहाँ पुण्य-कर्म करने वाले भी हैं । प्राय: मनुष्य पुण्य व पाप दोनों प्रकार के कर्म साथ-ही-साथ करते रहते हैं । तब मन को पापी कैसे माना जाये ? पापी तब माना जाये जब सदैव अशुद्ध संकल्प ही हर किसी के मन में आते रहते हों । मन तो जीवात्मा का अंग है । सतयुगी सूर्यवंशी श्रीलक्ष्मी-श्रीनारायण आदि देवी-देवता जो महान् पुण्यात्मा हुये हैं उनके संकल्प सदैव ही शुद्ध थे । देवी-देवताओं के समय में जब भारत स्वर्ग या वैकुण्ठ कहलाता था तब विकल्पों का लेशमात्र भी न था । इससे सिद्ध है कि मनुष्यों की मानसिक वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं — सात्विक, राजसिक व तामसिक कहा भी जाता है कि मनुष्यात्मा अपना स्वयं ही मित्र है और स्वयं ही शत्रु है । जब मन में शुद्ध संकल्प उठते हैं तब आत्मा अपना मित्र होती है और जब मन में अशुद्ध संकल्प उठते हैं तब वह अपना स्वयं ही शत्रु होती है । अत: मन सदैव मूर्ख, पापी व नीच नहीं होता ।

शुद्ध संकल्प अथवा अशुद्ध संकल्प पूर्व-संस्कारों पर आधारित होते हैं

जैसे ऊपर बताया गया है कि आत्मा संस्कारों का एक पुन्ज है जिसमें सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी — ये तीनों प्रकार के संस्कार समाए रहते हैं । जिस समय जिन संस्कारों की प्रधानता रहती है, उस समय मनुष्यात्मा वैसे ही संकल्प उत्पन्न करती है । आत्मा में भरे हुए शुद्ध अथवा अशुद्ध संस्कार अपने ही पूर्व-कर्मों पर आधारित होते हैं । मनुष्यात्मा जैसे कर्म करती है उसके अनुसार ही उसके संस्कार बनते और बिगड़ते रहते हैं । इसलिए शुद्ध संस्कार बनाने के इच्छुक जिज्ञासु को कर्म पर विशेष ध्यान रखना चाहिये और अशुभ कर्मों से बचना चाहिये । क्योंकि प्रत्येक कर्म करने से पहले मनुष्य सोचता अवश्य है । यह सोचने का काम बुद्धि का है । यदि मनुष्य की बुद्धि शुद्ध एवं सतोगुणी है अर्थात् यदि बुद्धि पाँच विकारों — काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से रहित है तो अवश्य ही उससे श्रेष्ठ कर्म होंगे । बुद्धि मलीन होगी तो वह पाप ही करेगा । बुद्धि की शुद्धि ब्रह्मचर्य और सत्य ज्ञान से ही होती है । क्योंकि आध्यात्मिक ज्ञान व ईश्वरीय योग से बुद्धि को बल मिलता है । इस बल के आधार से ही मनुष्य अपने मन के बुरे संकल्पों को काट

सकता है, नहीं तो उससे मनमाने कर्म होते रहते हैं। अत: मन, वाणी और कर्म की पवित्रता संस्कारों पर ही आधारित है और संस्कार केवल ईश्वरीय ज्ञान और आध्यात्मिक योग की शिक्षा से ही बदले जा सकते हैं अथवा पवित्र बनाये जा सकते हैं।

मन-मत पर चलना मानों बे-लगाम घोड़े पर सवार होना है

मत चार प्रकार की हैं। श्रीमत, गुरु-मत, शास्त्र-मत तथा मन-मत। इसमें सर्वश्रेष्ठ मत 'श्रीमत' अर्थात् पारलौकिक परमपिता परमात्मा की मत ही है। क्योंकि ज्योति-बिन्दु शिव परमात्मा ही सबके परमपिता, परम शिक्षक एवं परम सद्गुरु हैं जो कि सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् हैं। परमपिता शिव ही हर कल्प के कलियुग के अन्त और सतयुग की आदि के संगम के समय पर अवतरित होकर ब्रह्मा-मुख-कमल से अपनी सर्वश्रेष्ठ मत अर्थात् 'श्रीमद्भगवद् गीता'[१] सुनाते हैं। इसीलिए ब्रह्मा की मत का भी गायन है। मन-मत पर चलने या मनमानी करने से मनुष्यात्मा पापात्मा बन जाती है। गुरु-मत व शास्त्र-मत भी तब तक ही मानने योग्य हैं जब तक भगवान् की सर्वश्रेष्ठ श्रीमत न मिले। भगवान् के अवतरण के पश्चात् तो गुरु या शास्त्र-मत को भी मनुष्य-मत की ही श्रेणी में समझना चाहिये। क्योंकि भगवान् इन सब मतों से निकालकर मनुष्यों को अपनी ही श्रीमत पर चलने की आज्ञा देते हैं। जैसे सूर्य उदय होने पर चाँद व सितारों का प्रकाश तिरोहित हो जाता है वैसे ही ज्ञान सूर्य ज्योति-बिन्दु परमात्मा शिव के ब्रह्मा तन में अवतरित होकर सत्य-ज्ञान से शास्त्र-मत अथवा गुरु-मत आदि-आदि निरर्थक बन जाती हैं।

मन को मारा नहीं, सुधारा जाता है

हठयोगी अनेक प्रकार की साधनाओं द्वारा मन को दमन करने की व्यर्थ चेष्टा करते हैं। वे समझते हैं कि मन में किसी प्रकार की कोई इच्छा ही उत्पन्न न होनी चाहिये और वे कामनाओं व इच्छाओं को ही मन की अशान्ति का मूल कारण मानते

---

१. नोट:- गीता-ज्ञान द्वापरयुग में देवता श्रीकृष्ण नहीं देते बल्कि परमात्मा शिव प्रजापिता ब्रहमा के शरीर रूपी रथ द्वारा पुरुषोत्तम संगमयुग में देते हैं। इस विषय पर हमारी पुस्तक – "गीता का भगवान् कौन ?" – पढ़िये।

हैं। परन्तु जब तक मनुष्य जीवित है, मन के संकल्प तो कभी बन्द नहीं हो सकते। संकल्पों में इच्छाएं व कामनाएं समाई ही रहती हैं। संकल्प दो प्रकार के होते हैं — शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध संकल्पों से शुद्ध कामनाएं और अशुद्ध से अशुद्ध कामनाएं उत्पन्न होती हैं। शुद्ध कामनाओं की पूर्ति से मनुष्य 'देवता' कहलाता है और अशुद्ध कामनाओं के कारण असुर अथवा नीच बन जाता है। यदि मानसिक शुद्ध-इच्छाओं को दमन कर दिया जाये तो मनुष्य-जीवन ही निरर्थक हो जाये। अत: अशुद्ध कामनाओं का विरोध और शुद्ध कामनाओं की वृद्धि करना ही मानव जीवन का पुरुषार्थ है। जिस मनुष्य के संकल्प तथा कामनाएं शुद्ध हों वह सदैव परोपकारी होता है। वह स्वयं भी शान्त-चित्त और सुखी रहता है और दूसरों को भी आप समान बनाता है। इसलिये शुभ इच्छाओं को सदैव प्रोत्साहन देना चाहिये।

मानसिक संकल्पों को रोकना तथा शुभ इच्छाएं व संकल्प उत्पन्न करना ही मन को सुधारना है। परन्तु, शुभ तथा अशुभ कामनाओं के भेद को कैसे जाना जाये? इस निर्णय के लिए बुद्धि शुद्ध चाहिये। यदि बुद्धि तमोगुणी तथा विकारी हो तो मन में अवश्य ही अशुद्ध संकल्प उत्पन्न होंगे और उनकी पूर्ति में लगा हुआ मानव सदैव दु:खी व अशान्त बना रहेगा। जैसे घोड़े को सिखाया अथवा सुधारा जाता है ताकि वह सदैव अपने स्वामी की इच्छानुसार सीधी राह पर ही चले और अपनी इच्छा से इधर-उधर न भागता रहे, वैसे ही मन को भी सुधारना चाहिये ताकि वह सदैव शुद्ध संकल्पों तथा शुद्ध कामनाओं में ही रमण करता रहे और कभी किसी बुरे विकल्प की ओर न चले।

मानसिक विकार ही मन की चंचलता के मूल कारण हैं

मानसिक विकार अनेक प्रकार के होते हैं, परन्तु मुख्य विकार — काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार — ये पाँच माने जाते हैं। अन्य सभी विकार इन पाँचों की सन्तान अथवा शाखाएं ही हैं इन विकारों को मानसिक रोग भी कहा जाता है जो कि मन को चंचल बनाते हैं और इस चंचलता से ही मनुष्यात्मा अशान्त बन जाती है।

जैसे मनुष्य शारीरिक रोगों के कारण व्याकुल रहता है वैसे ही ये मानसिक

रोग भी उसे दु:ख व अशान्त करते हैं। इन मानसिक रोगों से निवृत्ति के लिये ही मनुष्य मंदिरों व तीर्थ-स्थानों पर जाते हैं। जैसे बन्दर कभी चैन से नहीं बैठता, उसकी चंचलता प्रसिद्ध है, वैसे ही विकारी मनुष्य का मन भी सदैव चंचल रहता है, उसे भी कभी चैन नहीं आता। अल्पकाल की शान्ति के तो अनेक साधन हैं जो मनुष्य प्राय: जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ, हवन, शास्त्र-अध्ययन व तीर्थ-यात्रा आदि-आदि साधनों से प्राप्त करते आये हैं। परन्तु, जब तक उसके मन की चंचलता दूर नहीं होती उसे शान्ति मिल नहीं सकती और वह जहाँ-तहाँ शान्ति के लिये भटकता ही रहता है। जैसे रोगी मनुष्य डॉक्टरों व वैद्यों के हाथों लुट जाते हैं वैसे ही मानसिक चंचलता (जो मन की अशान्ति का मूल कारण है) के निरोध के लिये आजकल मनुष्य गुरुओं, पंडितों अथवा तीर्थों पर पण्डों के हाथों लुटते ही रहते हैं।

यह भी देखा जाता है कि जिन विकारों के कारण मनुष्य व्याकुल होकर अशान्त-चित्त बनता है, भूल से उन विकारों में शान्ति प्राप्त करने के चक्कर में पड़कर वह फिर-फिर उन्हीं विकारों की दल-दल में फसता ही रहता है। जैसे कुत्ता सुखी हड्डी जोर-जोर से चबा-चबाकर अपने ही मुख से निकले रक्त को चाटता रहता है और अन्त में अपना ही मुख लहू-लुहान बना लेता है, ऐसी ही दुर्दशा विकारी मनुष्यों की होती है।

मन की चंचलता को ज्ञान व बुद्धि-योग बल से रोका जा सकता है

मन की चंचलता, अस्थिरता व मन का भटकना बात एक ही है। जब तक किसी राही को न मंजिल का पता हो और न सीधे-सच्चे मार्ग का ही पता हो, जो उसे मंजिल पर पहुँचा दे, तब तक वह राही भटकता ही रहता है। कभी इधर, कभी उधर जाता है और बहुत समय भटकते रहने से अशान्त तथा व्याकुल हो जाता है। वैसे ही अज्ञानी व पथ-भ्रष्ट मनुष्य जिसे मुक्ति तथा जीवन मुक्ति रूपी अपनी मंजिल का पता नहीं और न ही उसे उस मंजिल पर ले जाने वाले सच्चे ईश्वरीय मार्ग का ही पता है वह मन-मत, गुरु या शास्त्र-मत आदि के अनेक रास्तों पर चलकर भटकता रहता है, जो कहीं पहुँचाते तो नहीं, पर उसे बहकाते व रूलाते अवश्य हैं। विकारों की वासनाओं में उलझा हुआ प्राणी निश्चय ही जीवन के वास्तविक लक्ष्य

को नहीं जानता । एक गीत भी है कि— 'कहाँ तेरी मेजिल, कहाँ है ठिकाना, मुसाफिर बता दे, है कहाँ तुझको जाना ।' सचमुच, आज का प्राणी मुक्ति तथा जीवन्-मुक्ति की मंजिल को भूल विकारों की राह में भटक रहा है । विकारों से तृप्ति तो कभी हो नहीं सकती । जैसे-जैसे तृष्णा बढ़ती जाती है विकारों में फंसकर उसके मन की चंचलता अधिकाधिक होती जाती है । मन की चंचलता को दूर करने के लिये मन को ठिकाना चाहिये । इस ठिकाने को जानना ही ज्ञान है और योग वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य उस ठिकाने पर पहुँच सकता है । यहाँ योग से अभिप्राय: आध्यात्मिक योग से है । योग अथवा सच्ची लग्न ही वह अग्नि है जो विकारों अथवा विकर्मों को भस्म कर देती है । जो मनुष्य भगवान् के हाथ में हाथ देकर अर्थात् उस पथ-प्रदर्शक का हाथ पकड़ कर तीव्र पुरुषार्थ करता है वह सहज ही जीवन्मुक्ति रूपी लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है । फिर मन की चंचलता सदा के लिये नष्ट हो जाती है । अत: मन की शान्ति के लिये योगी जीवन बनाना चाहिए । याद रहे कि मन की चंचलता को दूर करना ही मन को अमन अथवा सुमन बनाना है ।

मन का भटकना कैसे दूर हो ?

हठयोगी हठ की क्रियाओं से मन को एकाग्र करने का तो पुरुषार्थ करते हैं, परन्तु उनके मन की भटकन समाप्त नहीं होती । सत्य बात तो यह है कि जब तक आत्मा असन्तुष्ट है उसकी भटकना कभी बन्द नहीं होती । आत्मा कैसे सन्तुष्ट हो, यह जानना आवश्यक है । प्रत्येक प्राणी को अपने ही गुण, कर्म और स्वभाव में बरतते हुए आनन्द आता है । जैसे डॉक्टर अपनी डॉक्टरी के कार्य में प्रसन्न रहता है । व्यापारी व्यापार करने में ही हर्षित रहता है । यहाँ तक कि मदारी भी अपना खेल दिखाकर आनन्दित होता है । ठीक उसी तरह हरेक जीवात्मा भी अपने वास्तविक गुण-कर्म में विचरण करके ही आनन्दित होती है । प्रत्येक मनुष्यात्मा वास्तव में परम पवित्र, सुख के सागर तथा शान्ति के अपार स्रोत परमपिता परमात्मा की सन्तान है । वह भी दिव्य-गुणों वाली पवित्र और निर्विकार स्वभाव वाली है । इसी कारण वह शान्ति, सुख, प्रेम, आनन्द इत्यादि गुणों के आदान-प्रदान में विचरण करती हुई ही सन्तुष्ट रह सकती है । जब यह अपने इन दिव्य-गुणों से हटती है,

अवगुणों में फँस जाती है तो दुःखी, अशान्त एवं असन्तुष्ट हो उठती है । आजकल मनुष्यों की अवस्था एक ऐसे बालक के समान है जो खेल खेलते-खेलते घर का मार्ग भूल गया हो । उसे यद्यपि सुख के सब साधन दे भी दिये जाएं परन्तु जब तक उसे माता-पिता न मिले या कोई घर का मार्ग न बता दे तब तक वह बालक व्याकुल ही रहता है । उस बालक को व्याकुल तथा भटकता देखकर, यदि कोई उसे दोषी ठहराये तो यह दोष देने वाले की ही भूल होगी क्योंकि घर को भूले बालक का अशान्त होना तो स्वाभाविक ही है । आज प्रत्येक जीवात्मा निज-धाम को भूल चुकी है । जब तक जीवात्माओं को उस शान्ति धाम का परिचय न मिल जाए और उन्हें सीधी राह पर न डाल दिया जाए, जब तक भटकना जन्म-जन्मान्तर चलता ही रहता है । आज के अज्ञानी पण्डे तथा मिथ्या ज्ञानी गुरु, पंडित, विद्वान्, आचार्य तो मुक्ति तथा जीवन्-मुक्ति, इन दो धामों की राह बता नहीं सकते । उन्होंने तो मनुष्यों को स्थूल धामों व झूठे तीर्थों की यात्रा करवा-करवा कर और ही भटका दिया है । उन्हें न तो पारलौकिक परमपिता परमात्मा का कुछ ज्ञान है और न ही आकाश तत्त्व के पार स्थित परमधाम का कुछ ज्ञान है । भला स्वयं ही भटका हुआ मनुष्य किसी और को यथार्थ मार्ग बता ही कैसे सकता है ? क्या अन्धे का मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है ? कदापि नहीं !

अब इस अति धर्म-ग्लानि के समय भगवान् निराकार ज्योति-बिन्दु शिव इस साकार मनुष्य-सृष्टि पर अवतरित होकर प्रजापिता ब्रह्मा के साधारण वृद्ध तन में प्रवेश करके स्वयं अपनी तथा अपने उस परमधाम (शान्तिधाम) की पहचान दे रहे हैं । उस ईश्वरीय सत्य-ज्ञान की शिक्षा ही ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व विद्यालय के माध्यम से स्वयं निराकार परमात्मा शिव द्वारा दी जा रही है । अनुभव साक्षी है कि इस विश्व-विद्यालय द्वारा सिखाए जा रहे सहज ज्ञान व सहज योग (राजयोग) की शिक्षा द्वारा मनुष्य को ईश्वर-प्राप्ति तथा सृष्टि और ब्रह्माण्ड का पूर्ण ज्ञान मिल जाने से उसके मन का भटकना बन्द हो जाता है ।

मन को जीतने का अर्थ है – मानसिक विकारों पर विजय प्राप्त करना

मन को वश में करना व मन को जीतना एक ही बात है । मन को वश करना

मन के मारने को नहीं कहते । मन का वश होने से तात्पर्य यह है कि मन में केवल वही संकल्प उठे जो मनुष्य को सद्मार्ग पर ले जाने वाला हो । मन बुरे संकल्प अर्थात् विकल्प करना छोड़ दे, अशुद्ध संकल्प मन में आए ही नहीं, इसको ही मन पर जीत प्राप्त करना कहा जाता है । जैसे घोड़े को वश करने का अर्थ यह नहीं कि वह दौड़ना बन्द कर दे और एक स्थान ही पर रुका रहे, अपितु वह दौड़े बेशक, परन्तु जिस ओर मालिक ले जाना चाहे वह उस ओर ही जाए परन्तु मनमाने मार्ग पर नहीं । मन रूपी अश्व के लिए विकारी मार्ग ही कुमार्ग है । जीवन की राह में मनुष्य के लिये विकार ही गढ्ढे हैं जिनमें गिरने से उसे दु:ख तथा अशान्ति रूपी चोटें खानी पड़ती हैं ।

मानसिक विकारों से युद्ध

विकारों को जीतने का प्रश्न ही तब पैदा होता है, जबकि उससे हार चुके होंते हैं और आत्मा में वह शक्ति नहीं रहती जो कि वह विकारों से बच सके । मनुष्य न चाहते हुए भी विकारों के वश हो जाता है । यह सृष्टि है ही युद्ध-स्थल । हमारा युद्ध माया अर्थात् पाँच विकारों के साथ है जो ही मनुष्यात्मा के महाशत्रु माने जाते हैं । जैसे जब शरीर बलवान होता है तो वह निरोगी भी अवश्य होता है, वैसे ही जब आत्मा बलवान है तब निर्विकार अवश्य है । निर्बलता के कारण ही मनुष्यात्मा विकारग्रस्त होती है । जीवात्मा की निर्बलता का मूल कारण है अज्ञान । जब जीवात्मा निज स्वरूप, निज धाम व परमपिता के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाती है तब उसका पतन होना प्रारम्भ होता है । विकार रूपी शत्रु सदा ही अपना घेरा डाले रखते हैं । हार और जीत दोनों ही साथ-साथ चलते हैं । अत: यदि कोई सदा हारता ही रहे तब तो युद्ध की कोई बात ही नहीं रहती । युद्ध तो तब ही माना जाता है जब मनुष्य पुरुषार्थ करके जीत प्राप्त करे । युद्ध में तो शक्ति से ही जीत प्राप्त होती है । इन मानसिक विकारों को जीतने की शक्ति कौनसी है ? यदि आत्मा अपने ही बल से जीत पा सकने में समर्थ होती तब वह हार ही क्यों खाती ? इससे सिद्ध है कि 'पतित-पावन' शक्तिदाता भी अवश्य कोई और है । यह शक्ति देने वाले एक निराकार भग्वान शिव हैं । शक्तियों का गायन तो चला आता है । शिव

से शक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? इस शक्ति की प्राप्ति के लिए शिव को यथार्थ रीति से जानकर शिव परमात्मा से बुद्धि का योग कैसे लगाया जाता है ? वह शिक्षा प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय द्वारा प्राप्त हो सकती है ।

सच्ची परम शान्ति के दाता ही परमपिता परमात्मा एक हैं

जो वस्तु जहाँ और जिसके पास हो, वह वहीं से ली जाती है । अल्पकालीन शान्ति के साधन तो बहुत हैं, परन्तु सदाकालीन परम-शान्ति एक परमपिता परमात्मा ही देते हैं । उनको ही शान्ति का सागर माना जाता है । दयालु, शान्ति और सुख का दाता भगवान् को इसीलिए माना जाता है क्योंकि वह स्वयं ही आकर कृपा करते हैं । परमात्मा को परमपिता भी इसलिये कहते हैं क्योंकि वे अपनी प्रिय सन्तान-हम बच्चों को हमारे जन्म-सिद्ध अधिकार अथात् पवित्रता, सुख, शान्ति का अविनाशी वर्सा देते हैं । ऐसी प्राप्ति का सारे कल्प में एक ही निश्चित समय, वर्तमान पुरुषोत्तम संगम युग है, जबकि कलियुग का अन्त और सतयुग का आरम्भ होने ही वाला है । जैसे वर्षा ऋतु में बादल बरस कर खेती हरी-भरी कर देते हैं वैसे ही ज्ञानसागर त्रिमूर्ति परमात्मा शिव प्रजापिता ब्रह्मा के मुख कमल से अमूल्य, अविनाशी गीता- ज्ञानामृत देकर मनुष्य आत्माआं को तृप्त कर देते हैं और विकारों रूपी माया से मूर्छित हुई जीवात्माएं फिर से सुरजीत हो जाती हैं । भगवान् सहज ज्ञान और सहज राजयोग भी स्वयं सिखाते हैं । इस योग-अग्नि से मनुष्य अपने विकर्मों को दग्ध करके कर्म बन्धनों से मुक्त होते हैं, तभी इस सृष्टि पर भिन्न-भिन्न प्रकार की आपदाओं द्वारा महाविनाश के आरम्भ होने पर सभी मनुष्य-आत्माएं अशरीरी होकर ज्ञान-योग से अथवा धर्मराज के दरबार की सूक्ष्म सज़ाओं से, विकर्मों तथा कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर, अपने शान्ति-धाम लौटकर परम शान्ति को प्राप्त होती हैं, अत: इसको ही मुक्ति कहते हैं । इस मुक्तिधाम से फिर अपने-अपने निश्चित समय पर अपने-अपने पार्ट अनुसार सभी आत्माएं इस साकार सृष्टि पर (जो नर्क से बदलकर स्वर्ग बन जाती है) पार्ट बजाने आती हैं और जीवन में अपार शान्ति तथा सुख अनेक जन्म तक भोगती हैं, जिसको ही ईश्वरीय सुख व शान्ति का जन्म-सिद्ध अधिकार अथवा परम-सौभाग्य कहते हैं । ईश्वरीय

सहज गीता-ज्ञान तथा सहज राजयोग की शिक्षा जो भगवान् शिव आदि-देव-ब्रह्मा जी के माध्यम से प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय द्वारा दे रहे हैं, इससे मनुष्यात्माओं को भविष्य में २१ जन्मों (२५०० वर्षों) के लिए सच्ची शान्ति और सुख की प्राप्ति होती है और उनका वर्तमान जीवन भी सुधरता है, अर्थात् अशान्त मन में फिर से ईश्वरीय प्रेम तथा अपार शान्ति जागृत होती है । यह अनुभव भी करने योग्य है जो कि अभी इसी जीवन में अनुभव भी किया जा सकता है । दाता दे रहा है, तो अब हमें सुपात्र बनकर फिर से अपना सौभाग्य अवश्य ही ले लेना चाहिए । क्योंकि शान्ति के लिये हमें कुछ पुरुषार्थ तो करना ही पड़ेगा ।

मन की शान्ति का मूल-मंत्र 'मन्मनाभव'

गीता के भगवान् ज्योति-बिन्दु शिव परम शान्ति की प्राप्ति का बहुत सहज उपाय बताते हैं । वे 'मन्मनाभव' होने की आज्ञा देते हैं । भगवान् कहते हैं कि "बच्चे, मन को किसी ओर भटकने न दो, बल्कि मुझ एक को याद करो । यदि तुम मन को मुझ एक में टिकाओगे तो 'मध्याजी भव' अर्थात् तुम पापों से मुक्त होकर परम शान्ति तथा परमसुख को प्राप्त करोगे ।" यह महामंत्र कोई रटने के लिए अथवा बार-बार जाप करने के लिए नहीं है । जैसे गुड़ कहने से मुख मीठा नहीं होता बल्कि खाने से होता है, इसी प्रकार शान्ति कहने से नहीं, शान्ति में स्थित होने से मिलती है । भगवान् को याद करने के लिए मुख से कुछ बोलना आवश्यक नहीं है । बल्कि मन ही मन उस अव्यक्त मूर्त की तथा उसके अपार गुणों की याद आती रहे । बस, इसका ही अभ्यास करना है । बाकी कुम्भ आदि मेलों पर गंगा-स्नान के लिए भीड़-भाड़ में जाकर धक्के खाना अथवा साज आदि बजाकर शोर मचाना अथवा कर्मकाण्डों को, 'मन्मनाभव' नहीं कहा जा सकता । अनुभव कहता है कि ये तो शान्ति से दूर ले जाने वाले साधन हैं । बुद्धि की डोर उससे निरन्तर जुड़ी रहे, केवल इसी का अभ्यास करना है । इसमें गुनगुनाने या कहीं भाग-दौड़ करने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि यथार्थ पुरुषार्थ से ही सफलता होती है । मन की शान्ति तो अपने ही गले का हार है, इसको कहीं ढूंढा नहीं जाता । केवल अन्तर्मुखी होने की आवश्यकता है । बाह्यमुखता से तो शान्ति के स्थान पर अशान्ति ही मिलती

है ।

मन की सच्ची शान्ति की जननी पवित्रता ही है

मन की शान्ति पाने के लिए आत्मा को अपने स्वधर्म की पहचान और उसी पहचान में रहने के लिए उनको मनन-चिन्तन करना भी आवश्यक है । गीता के भगवान निराकार परमपिता परमात्मा शिव बताते हैं कि आत्मा का निवास-स्थान इस साकार सृष्टि के पाँचों तत्वों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और आकाश तथा सूर्य, चाँद और सितारों से भी पार स्थित अखण्ड-ज्योति महातत्व में है । इस स्थान को परमधाम अथवा परलोक भी कहते हैं । यह परमधाम तो है ही शान्तिधाम । इस शान्तिधाम में रहने वाली आत्मा का भी वास्वतिक स्वधर्म शान्ति ही है । जिस समय आत्माएं अपने परमपिता परमात्मा के साथ अपने शान्तिधाम में होती हैं उस समय आत्माएं बिल्कुल पवित्र तथा निर्विकारी होती है । परन्तु पाँच विकारों अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार में फंसने के कारण ही सभी आत्माएं अशान्त हो गई हैं । जहाँ विकार हैं वहाँ ही नर्क है, दुःख तथा अशान्ति है और जहाँ निर्विकारिता अथवा पवित्रता है, वहाँ ही स्वर्ग है, सुख तथा शान्ति है । क्योंकि जहाँ दुःख है वहाँ अशान्ति भी अवश्यक होती है और जहाँ सुख है वहाँ शान्ति भी दौड़ी आती है । अतः सुख-शान्ति बनाये रखने के लिये इस स्मृति में टिकना चाहिये कि मैं आत्मा भी सुख-शान्ति के दाता परमात्मा शिव की सन्तान सुख-स्वरूप हूँ, तो मुझे स्वयं के लिए सुखदायी बनना है और दूसरों के लिए भी सुख-स्वरुप रहना है । कहते भी हैं — आत्मा स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही शत्रु है । तो पहले यह देखना है कि मैं स्वयं अपना शत्रु तो नहीं, मैं स्वयं अपना मित्र हूँ न ? पतित और विकारी आत्माएं स्वयं अपनी शत्रु बन पड़ती हैं । अपने स्वयं का मित्र वह ही है जो इन दुख देने वाले विकारों को दूर भगाए । नर्क बनाने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, और अहंकार को भगाने के लिए अपने स्वधर्म की, अपने आप की तथा अपने परमपिता की स्मृति में रहना आवश्यक है । निराकार और निर्विकार परमात्मा शिव को याद करने से ही जीवात्मा अपने जन्म-जन्मान्तर के विकर्मों से छुटकारा पाकर परम-शान्ति को प्राप्त कर सकती है ।

मन की अशान्ति के कारण, व्यक्तिगत समस्यायें तथा उनके उपाय

१. शारीरिक रोग – शारीरिक रोग निश्चय ही मनुष्य को अशान्त बना देते हैं। जितना समय मनुष्य रोगी रहता है, मन अशान्त रहता है। यह अशान्ति तब दूर हो सकती है जब हम यह निश्चय करें कि ये शारीरिक रोग अपनी भूलों तथा पाप-कर्मों के परिणाम हैं, इस निश्चय से आगे के लिये दिन-प्रति दिन भूलें कम हो जाती हैं, सहनशीलता बढ़ जाती है और अशान्ति दूर होकर मनुष्य हर्षितमुख रह सकता है।

२. निर्धनता – ऐसे लोग भी हैं जिनके पास जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त धन अथवा धनोपार्जन के साधन नहीं हैं जिसके कारण वे बेचारे दुःखी तथा अशान्त रहते हैं। यहाँ निर्धनता के कारण को भी सोचना पड़ेगा। यदि वे ठीक पुरुषार्थ नहीं करते तब तो उन्हें युक्ति-युक्त पुरुषार्थ करना चाहिए। पुरुषार्थ की सफल्ता से अशान्ति के कारण ही मिट जाएगा। यदि अथार्थ रूप में पुरुषार्थ करने पर भी निर्धनता दूर नहीं होती तब भावी अपना भाग्य समझ मन को संतोष देकर शान्त-चित्त रहना चाहिए तथा इस विराट् सृष्टि-रंगमंच पर हो रहे नाटक में अपने-अपको कुछ समय के लिए 'निर्धन' का पार्टधारी समझ हर्षित रहकर जीवन चलाना चाहिए। धैर्य धारण करने से अभावों के होने पर भी अशान्ति की अनुभूति नहीं होंगी।

३. चिन्ताएं – चिन्ता भी एक प्रकार का मानसिक रोग है। इसके भी कई कारण होते हैं। प्रायः चिन्ता भी मोह या भय के कारण ही होती है। जैसे कि क्या होगा या कहीं ऐसा न हो ? ये दो बातें बुद्धि से निकाले निकलती नहीं। अपना काम पुरुषार्थ तक ही रहना चाहिए। परिणाम क्या है, वह जो भी हो उसकी चिन्ता करना भूल है। जो हम चाहते हैं सदैव वैसा ही हो — यह तो असम्भव है। अतः जो भी परिणाम हो अपने अन्दर उसे सहन करने की शक्ति उत्पन्न करनी ही चाहिये। चिन्ता को प्रभु-चिन्तन में बदल देना, यह बहुत अच्छी युक्ति है। मन-ही-मन भगवान् के अपार गुणों का चिन्तन करने से साँसारिक व्यवहारों की चिन्ता मन से निकल जाती है। भय की जगह निर्भयता आ जाती है तथा उदासीनता हर्षितमुखता

में बदल जाती है और अशान्त मन शान्त बन जाता है ।

४. प्रतिकूल वातावरण, विपरीत परिस्थितियाँ, विघ्न तथा दुर्घटनाएं - आज मनुष्य के जीवन में उतार और चढ़ाव बहुत आते हैं । तमोप्रधानता के कारण न केवल मनुष्य-मात्र अपितु पशु-पक्षी तथा पाँच तत्वों की प्रकृति-सब-के-सब दूषित हो चुके हैं । संसार में जो भी सुख-शान्ति के साधन समझे जाते हैं, उनमें भी दुःख और अशान्ति समा गई है । मनुष्यों के परस्पर स्वभाव नहीं मिलते; इसलिए आजकल घर-घर में कलह रहती है । किसी का पड़ौसी, किसी का नौकर, किसी का पति, किसी की पत्नी, किसी का पुत्र और किसी की पुत्री घर में अशान्ति के निमित्त बने हुए हैं । हर कोई प्रतिकूल वातावरण तथा विपरीत परिस्थितियों से घिरा हुआ है । दुर्घटनाएं भी नित्य-प्रति हर किसी के सम्मुख रहती हैं । मानो सारे जगत का वायुमण्डल ही अशान्ति का है । वर्तमान युग में शान्ति को धारण करना असम्भव तो नहीं कठिन अवश्य है । बिना ज्ञान और योगबल के जीवन में शान्ति प्राप्त हो नहीं सकती । इस अशान्त वातावरण में अशान्ति से बचने का एक सहज उपाय यह है कि मनुष्य अपने आपको इस विराट् सृष्टि रूपी मंच पर हो रहे नाटक का एक पार्टधारी, अभिनेता तथा दर्शक समझता रहे । क्योंकि नाटक के पार्टधारयों को किसी बात में हर्ष व शोक नहीं होता । मंच पर अभिनय करते समय उनके अनेक सम्बन्ध होते हैं, तो भी उनसे उनका कोई पारिवारिक लगाव नहीं होता अपितु वे न्यारे के न्यारे रहते हैं । दर्शक रूप में मनुष्य कितने नाटक देखते हैं । क्या कोई नाटक को दुखो दुःखी हुआ है ? नहीं, बुद्धि में रहता है कि यह नाटक है । जैसे नाटक देखने व खेलने से मनुष्य अशान्त नहीं होता अपितु हर्षित होता है, वैसे ही जीवन को एक नाटक समझकर उपराम रहने से कभी अशान्ति का अनुभव नहीं हो सकता ।

५. मानसिक विकार – कौन नहीं जानता कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, अशुद्ध अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि मानसिक विकारों के कारण ही मन अशान्त होता है । परन्तु इन विकारों से बचने का कोई सहज उपाय होना चाहिए । यहाँ अपने अनुभव के आधार से एक बहुत सहज युक्ति लिखते हैं । देखिये, जब मनुष्य तीर्थ-यात्रा

पर जाते हैं, वे जितने दिन यात्रा पर रहते हैं, खान-पान, रहन-सहन आदि में वे हर प्रकार से विशुद्ध वातावरण बनाकर रखते हैं। उनके बुरे संस्कार दब जाते हैं और शुद्ध संस्कार जागृत हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार, यदि अपने-आपको मुक्ति-धाम और जीवन्मुक्ति का यात्री निश्चय कर लें तो जीवन-भर मानसिक विकार कभी समीप न आएं और जीवन में भी पवित्रता का वास रहे। याद रहे — जहाँ पवित्रता है वहाँ ही शान्ति है। अत: अपवित्रता को पवित्रता में बदलने से ही मन को स्थाई शान्ति मिल सकती है।

६. सच्ची शान्ति की प्राप्ति के मुख्य साधन–

१. आत्मा के निज-स्वरूप की स्मृति।
२. निज शान्ति धाम की याद।
३. शान्ति के सागर परमपिता परमात्मा शिव से योग।
४. अपने आपको एक साक्षी-द्रष्टा तथा ट्रस्टी (Trustee) समझ कर कर्तव्य परायण रहना।
५. बीती बातों को स्वप्न की भाँति भुला देना।
६. अशान्त वातावरण का यथासम्भव त्याग।
७. सहनशीलता का गुण धारण करना।
८. मानसिक विकारों का त्याग।
९. बुरे संग अथवा कुसंग का त्याग।
१०. तीव्र पुरुषार्थ।

मुद्रक : ओमशान्ति प्रैस, ज्ञानामृत भवन, शान्तिवन, आबू रोड़ (राज.) फोन. २६७८